



THE TIMES OF INDIA

Date: 14-12-18

Judicial Overreach

All that's wrong with Meghalaya HC musing India should have become a Hindu country

TOI Editorials



In a startling observation, Justice SR Sen of the Meghalaya high court has said that since Pakistan declared itself an Islamic state, India should also have been a Hindu country. This was while disposing a petition of someone denied domicile certification by the state government. It is difficult to see how the case justified a detour into how “India, Pakistan, Bangladesh and Afghanistan were one country and was commanded by Hindu kingdom but thereafter the Mughal came.”

At a time when the country is facing a tortuous backlog of cases, what is needed is a judicial approach that is crisp rather than meandering and of questionable relevance. In the seminal Keshavananda Bharati judgment of 1973 the Supreme Court laid down a laxman rekha around the “basic structure of the basic law of the land”. A court contesting settled constitutional issues, especially when there is little provocation in the case before it, amounts to judicial overreach. Of course citizens are free to debate whether India should be a Hindu state or a Mughal monarchy or a fascist republic or a Maoist dictatorship. But judges should refrain from musing radical changes in the basic structure of the Indian state.

Democracy hinges upon separation of powers between judiciary, executive and legislature; this must be respected by all three branches of government. The manner in which the Meghalaya high court directed private airlines to start passenger flights from the state’s Umroi airport is another instance of outsize judicial overreach. A judge’s role is to limit himself to the legal question at hand and answer it within the framework of law and the Constitution. It is not to be unelected sovereign. SC has, rightly, stayed this order as of now – it should move to comprehensively reject the order.

Date: 14-12-18



दैनिक भास्कर

मंदिर वहीं बनाएं पर जबर्दस्ती नहीं, प्यार से

तुर्की के इस्तांबुल शहर में बना दो धर्मों का मिलाजुला स्मारक और अयोध्या विवाद का समाधान

चेतन भगत, (अंग्रेजी के उपन्यासकार)

अयोध्या आंदोलन का सबसे विवादास्पद नारा है 'मंदिर वहीं बनाएंगे।' इस नारे में न सिर्फ मंदिर की मांग है बल्कि इसमें अधिकार और संकल्प की जबर्दस्त ध्वनि भी है। शायद इसीलिए अयोध्या में मंदिर मांगने वाले लोगों पर तत्काल सांप्रदायिक का ठप्पा लगा दिया जाता है, उन्हें भारत के धर्मनिरपेक्ष ताने-बाने के खिलाफ और अतार्किक माना जाता है। लेकिन, अयोध्या में मंदिर बनाने का यह एकमात्र रास्ता नहीं है। वास्तव में बलपूर्वक या दूसरे समुदाय को रुष्ट करके बनाए मंदिर में भी उचित ऊर्जा, वाइब्रेशन अथवा आस्था नहीं होगी। मैं यहां अयोध्या मंदिर मुद्दे को सुलझाने की वैकल्पिक राह बताता हूं। यह समाधान जिसे मैं 'थ्री स्ट्रक्चर' समाधान कहता हूं, वह वास्तव में न सिर्फ भारत का बल्कि दुनिया का अनूठा तीर्थ व पर्यटन स्थल बनाने का अनूठा अवसर है।

इसमें मौजूदा स्थल पर या उसके नजदीक तीन संरचनाएं बनाने की योजना शामिल है। ये इस प्रकार हैं- 1. मौजूदा स्थल पर नया मंदिर, 2. इससे लगा मंदिर-मस्जिद का मिलाजुला म्यूजियम, 3. मौजूदा स्थल से पैदल चलकर जाने लायक दूरी पर नई मस्जिद। बेशक, इसमें सबसे ज्यादा चर्चा का मुद्दा मंदिर-मस्जिद के मिले-जुले ढांचे का होगा। यह हो कैसे सकता है? क्या ऐसा कभी किया गया है? और यह कैसा दिखेगा? और यह किसका प्रतिनिधित्व करेगा? हालांकि, इसके पहले कि हम समाधान के ब्योरो में जाएं, जल्दी से अयोध्या मुद्दे पर गौर करें। इस जगह को भगवान राम का जन्मस्थान माना जाता है, जो हिंदू धर्म में सबसे ज्यादा पूजे जाने वाले देवताओं में से एक हैं। यह आस्था का मामला है, इसलिए किसी भी तरह के सबूत से लोगों को इस या उस दिशा में कुछ सिद्ध करके दिखाना या यकीन दिलाना संभव नहीं है। एसआई की रिपोर्टें हैं, जिनमें बाबरी मस्जिद की जगह पर कभी मंदिर होने का इशारा दिया गया है। उन रिपोर्टों पर भी विवाद हुआ था। हालांकि, यह जगह बहुत सारे हिंदुओं के लिए बहुत महत्वपूर्ण है, ज्यादातर आस्था की खातिर। मुस्लिमों के लिए बाबरी मस्जिद महत्वपूर्ण है। फिर चाहे इसका उनके लिए उतना महत्व न हो जितना राम जन्मभूमि का हिंदुओं के लिए है।

इसलिए लगता है कि ऐसा समाधान संभव दिखता है जहां मुस्लिम समुदाय के सहयोग से हिंदू अपना मंदिर बना सके। यहां पर 'सहयोग' शब्द अहम है। इसे राम जन्मभूमि आंदोलन के दौरान पहले कभी इतना नहीं आजमाया गया। 'मंदिर वहीं बनेगा' की रट ने इस मुद्दे को विभाजनकारी बना दिया और इसे बहुसंख्यकों द्वारा अल्पसंख्यकों को धमकाने के

रूप में देखा गया। लेकिन, यह वास्तव में हिंदू-मुस्लिम एकता दिखाने का सुनहरा मौका है ताकि दिखाया जा सके कि कैसे दोनों धर्म भारत में सह-अस्तित्व बनाए हुए हैं। जहां कोई ऐसी संस्था नहीं है जो पूरे हिंदू धर्म या पूरे इस्लाम को चलाती हो वहीं यदि शीर्ष हिंदू संगठन शीर्ष मुस्लिम संगठनों से सहयोग मांगे तो मुझे पक्का लगता है कि जवाब सकारात्मक होगा। राजनीति ने ऐसे मुद्दे पर लोगों को बांटा है, जिसमें एकता दिखाने के अवसर मौजूद हैं। सहयोग की दलील दोनों तरह से काम देती है। यदि मुस्लिमों के लिए कोई जगह इतनी ही महत्वपूर्ण हो और वहां कोई मंदिर मौजूद है तो हिंदुओं से मंदिर को दूसरी जगह ले जाने के लिए सहयोग मांगा जा सकता है। करतारपुर गुरुद्वारे का मामला ही लीजिए, जो हमारे कट्टर प्रतिद्वंद्वी पाकिस्तान में है।

हाल ही में दोनों पक्ष सहमत हुए कि आव्रजन की औपचारिकताओं के बिना भारतीयों को करतारपुर आने दिया जाए। यदि यह अंतरराष्ट्रीय प्रतिद्वंद्वियों के बीच हो सकता है तो हम अयोध्या में समाधान क्यों नहीं खोज सकते, जो हमारा घरेलू मुद्दा है? सच तो यह है कि हमारे सामने दुनिया में एक और स्मारक का अद्भुत उदाहरण है, जो अयोध्या समाधान का प्रारूप हो सकता है? स्मारक हाजिया सोफिया कहलाता है और तुर्की के इस्तांबुल शहर में है। दुनिया के शानदार दर्शनीय स्थलों में गिना जाने वाला यह स्मारक 537 ईसवी में बनाया गया और यह 1453 तक चर्च था। उसके बाद ओटोमन साम्राज्य के मुस्लिम शासकों ने इसे मस्जिद में बदल दिया। 1453 से 1931 तक यह इमारत मस्जिद थी। उसके बाद इस काँम्प्लेक्स को धर्मनिरपेक्ष स्वरूप दिया गया और 1935 में इसे म्यूजियम के रूप में फिर खोला गया। इस्तांबुल में सबसे ज्यादा लोग इसे देखने जाते हैं, जो इमारत का ईसाई और इस्लामी इतिहास बताता है। उदाहरण के लिए इस्लामी मस्जिद का आधा प्लास्टर इसलिए उखाड़ दिया गया है ताकि भूतकाल में वहां बनाई गई ईसाई पेटिंग्स दिख सकें। इस कदम का पूरा प्रभाव बहुत ही सुंदर है और मैंने अपने जीवन में इस जैसी दूसरी कोई जगह नहीं देखी। हम वही जादू यहां जगा सकते हैं।

हम वहां राम मंदिर बना सकते हैं, जहां हिंदू आराधना कर सकें और पास ही में मस्जिद बनाई जा सकती है, जहां मुस्लिम नमाज अदा कर सकें। हालांकि, विवादित स्थल पर हम मंदिर-मस्जिद की मिलीजुली इमारत बना सकते हैं। देश के शीर्ष आर्किटेक्ट और डिज़ाइनरों की मदद से बनाया गया यह म्यूजियम खूबसूरती से इस जगह का इतिहास बता सकता है। इसमें हिंदू और इस्लामी दोनों तरह का आर्किटेक्चर होगा। यह 'अलग-अलग होकर भी एक' होने की भारत की आत्मा को व्यक्त कर सकता है। यदि ठीक तरह से अंजाम दिया गया तो यह 3 इमारतों वाली योजना अंतरराष्ट्रीय स्तर पर ख्यात स्मारक बन सकता है। यह अयोध्या एवं उत्तर प्रदेश की अर्थव्यवस्था को बल देकर हजारों रोजगार पैदा कर सकता है। यह देश में शांति को बढ़ावा दे सकता है और हमारे समय का विवादास्पद मुद्दा हल कर सकता है। बेशक, जब हम यह करें तो यह भी ध्यान रखें कि यह देश में और जगहों पर विवाद खड़ा करने के लिए मिसाल न बन जाए। बहुत सारे मंदिरों पर मस्जिदें बनाई गई हैं- हमारा इतिहास ही ऐसा है। लेकिन, यदि हम अन्य स्थलों को भी पुराने स्वरूप में बहाल करने की मांग करते रहेंगे तो यह देश की धर्मनिरपेक्षता को नुकसान पहुंचाएगा। राम जन्मभूमि की जगह अनूठी है- हिंदुओं में इसके लिए अत्यधिक आदर है। इसके समाधान से इस तरह के सारे विवाद हमेशा के लिए खत्म होने की संभावना बनेगी। अयोध्या का मुद्दा हमारे लिए हिंदू-मुस्लिम संबंध सुधारने और दुनिया का खूबसूरत स्मारक बनाने का मौका है। मंदिर वहीं बनाएंगे लेकिन, जबर्दस्ती नहीं, प्यार से; ज़िद से नहीं आग्रह से।

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 14-12-18

विधानसभा चुनावों में कांग्रेस की जीत और हिंदुत्व की हार का मिथक

कनिका दत्ता

उदारवादी और कांग्रेस पार्टी हिंदी प्रदेशों में भारतीय जनता पार्टी (भाजपा) की हार का जश्न हिंदुत्व की विचारधारा को नकारे जाने के रूप में मना रहे हैं। परंतु बहुत संभव है कि यह विजय एक नाशकारी विजय साबित हो। मध्य प्रदेश और छत्तीसगढ़ दोनों स्थानों पर जहां भाजपा के दो दिग्गज नेता वर्ष 2005 और 2003 से लगातार शासन कर रहे हैं, वहां असल समस्या ग्रामीण क्षेत्र की दिक्कतों और बेरोजगारी में निहित थी। इन दोनों राज्यों में कांग्रेस को जीत मुख्यतौर पर कृषि ऋण की माफी, न्यूनतम समर्थन मूल्य में इजाफा करने और किसानों का बिजली बिल सस्ता करने के नाम पर मिली। आर्थिक वृद्धि का खाका लगभग नदारद रहा।

प्रश्न यह है कि दोनों सत्ताधारी मुख्यमंत्री कांग्रेस के दावों का मुकाबला क्यों नहीं कर सके? मध्य प्रदेश में तो किसान असंतोष हिंसा का रूप तक ले चुका था? मोटेतौर पर ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि दोनों को समझदारी भरी अर्थनीति पर चलना पड़ा। अतीत में किसानों को भारी भरकम मूल्य समर्थन देने, वेतन आयोग का बकाया भुगतान करने और राज्यों की बिजली वितरण कंपनियों को घाटे से उबारने के लिए बनी केंद्र सरकार की उज्ज्वल डिस्कॉम एश्योरेंस योजना (उदय) के बोझ के कारण मध्य प्रदेश कर्ज के बोझ तले दबा हुआ है। उदय योजना के अधीन राज्य के दायित्व के तहत उसे बिजली कीमतों में सब्सिडी भी कम करनी है। यानी मध्य प्रदेश में अपना चुनावी वादा पूरा करने के लिए कांग्रेस को राजकोषीय दायित्व के उस मामूली हिस्से का भी त्याग करना होगा जो राज्य सरकार ने दर्शाया था। वित्त वर्ष 2018 में मध्य प्रदेश का राजकोषीय घाटा 3.4 फीसदी है और वित्त वर्ष 2019 के लिए इसके 3.3 फीसदी रहने का अनुमान जताया गया है। ये दोनों 14वें वित्त आयोग की 3 फीसदी की अनुशंसा से अधिक हैं। मध्य प्रदेश में शिवराज सिंह चौहान के उत्तराधिकारी इन विरोधाभासी मांगों के बीच संतुलन कैसे कायम करेंगे, यह देखने वाली बात होगी।

ठीक यही बात छत्तीसगढ़ में रमन सिंह के उत्तराधिकारी पर भी लागू होती है। यहां कांग्रेस ने सत्ता में आने के 10 दिन के भीतर कृषि ऋण माफ करने का वादा किया है। उसने धान के समर्थन मूल्य में अहम इजाफा करने और बिजली की दर आधी करने की बात भी कही है। छत्तीसगढ़ एक खनिज संसाधन संपन्न राज्य है लेकिन मानव विकास के मोर्चे पर राज्य काफी पीछे है। ऐसे में उसका राजकोषीय प्रबंधन बेहतर रहा है। राज्य राजस्व अधिशेष की स्थिति में है और वर्ष 2019 में उसका राजकोषीय घाटा 2.8 फीसदी रहने का अनुमान है। यानी वहां नई सरकार के पास अपने चुनावी वादे पूरे करने की कुछ गुंजाइश है। बड़ा मुद्दा यह है कि राज्य का विकास तो तेज गति से हुआ है लेकिन इतना भी तेज नहीं कि वह पर्याप्त रोजगार तैयार कर सके। माओवादी विद्रोहियों से निपटने में कमजोरी ने बड़े निवेशकों को हतोत्साहित किया है। नोटबंदी ने छोटे और मझोले उपक्रमों को ठप कर दिया है। छत्तीसगढ़ को सुचारु संचालन के लिए केंद्र के अनुदान और करों की आवश्यकता होती है। राजस्व व्यय में राज्य का अपना राजस्व 40 फीसदी से भी कम है। सार्थक निवेश के अभाव में वृद्धि इतनी गति नहीं पकड़ सकती कि राज्य के किसानों की कर्ज माफी और बिजली शुल्क दरों में कमी को व्यवहार्य बनाया जा सके।

छत्तीसगढ़ की नई सरकार को प्रदेश में शराबबंदी के वादे को पूरा करने में भी दिक्कत होगी। यह कतई समझदारी भरा कदम नहीं है। बिहार में हम इस प्रयोग की नाकामी देख चुके हैं। वर्ष 2017 में राज्य सरकार ने केवल सरकारी दुकानों के माध्यम से शराब की बिक्री की व्यवस्था की थी। इससे उसे शराब से मिलने वाले 2,000 करोड़ रुपये के राजस्व में काफी बढ़ोतरी हुई। यह बात समझ से परे है कि एक पार्टी जो कई लोकलुभावने वादे कर रही है वह राजस्व के एक बड़े स्रोत को बंद क्यों करने जा रही है। राजस्थान में दोनों दल बारी-बारी से सरकार बनाते आए हैं। इस वर्ष के आरंभ में प्रदेश की मुख्यमंत्री वसुंधरा राजे ने 8,000 करोड़ रुपये का कृषि ऋण माफ किया था। परंतु तमाम वजहों से वह दोबारा सरकार नहीं बना पाई लेकिन कांग्रेस की राज्य इकाई के अध्यक्ष सचिन पायलट ने संकेत दिया है कि नई सरकार सत्ता संभालने के 10 दिन के भीतर इस वादे को पूरा करेगी।

राजस्थान देश के सबसे तेज विकसित होते राज्यों में से एक है लेकिन वह अपने संसाधनों में काम चलाने के लिए संघर्षरत है। राज्य का वित्तीय घाटा वर्ष 2018 में 3.5 फीसदी था और वर्ष 2019 में उसके 3 फीसदी रहने की उम्मीद है। परंतु अगर कृषि ऋण की माफी की जाती है तो यह लक्ष्य हासिल होता नहीं दिखता। यानी तीनों राज्यों को बाजार से उधारी लेनी होगी। नोटबंदी और जीएसटी के हड़बड़ी भरे क्रियान्वयन ने इन राज्यों में बेरोजगारी को एक बड़ी समस्या बना दिया। गोकशी पर प्रतिबंध ने डेयरी किसानों की चिंता को बढ़ा दिया। इस समस्या ने तीनों राज्यों के मुख्यमंत्रियों को प्रभावित किया। यह सब तब हुआ जबकि केंद्र में उन्हीं की पार्टी की सरकार है और उन्होंने किसानों की दिक्कत दूर करने के प्रयास किए। उसने घरेलू बाजार में ढांचागत बदलाव और निर्यात की समस्या को हल करने की दिशा में काम किया। इन तीनों राज्यों में भाजपा के कमजोर प्रदर्शन के लिए हिंदुत्व कतई जिम्मेदार नहीं रहा। इसके पीछे आर्थिक मुद्दे जरूरी वजह थे। कांग्रेस की नई सरकारों को यह बात समझनी होगी।

Date: 14-12-18

'व्यक्तिगत' नहीं 'संस्थागत' है पटेल का इस्तीफा

आँकार गोस्वामी

ऊर्जित पटेल इस्तीफा देने वाले तीसरे गवर्नर हैं। भारतीय रिजर्व बैंक (आरबीआई) के पहले गवर्नर सर ऑसबर्न स्मिथ ने जून 1937 में अपना कार्यकाल पूरा होने के पहले ही इस्तीफा दे दिया था। उनका कार्यकाल साढ़े तीन वर्षों का था लेकिन दो साल और 90 दिन के बाद ही उन्होंने पद छोड़ दिया। पद छोड़ने की उनकी वजह साधारण थी। विनिमय दर और मौद्रिक नीति पर उनके विचार सरकार के रुख से मेल नहीं खा रहे थे। आरबीआई गवर्नर के पद से इस्तीफा देने वाले दूसरे शख्स सर बेनेगल रामाराव थे। रामाराव ने चौथे गवर्नर के पद से अपना इस्तीफा जनवरी 1957 में तत्कालीन वित्तमंत्री टी टी कृष्णामाचारी के साथ मतभेद गहराने पर दिया था। केंद्रीय बैंक की स्वतंत्रता को लेकर छिड़े विवादों के चलते उन्होंने इस्तीफा दे दिया था। प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने भी अपने वित्तमंत्री का साथ दिया जिसके बाद रामाराव को इस्तीफा देने के लिए मजबूर होना पड़ा।

इसके 61 साल बाद ऊर्जित पटेल इस सूची में शामिल होने वाले तीसरे गवर्नर हैं। पटेल ने सोमवार को तत्काल प्रभाव से अपना इस्तीफा देकर नौ महीने का शेष कार्यकाल पूरा नहीं करने का फैसला किया है। सवाल है कि पटेल ने इस तरह

अचानक पद छोड़ने का फैसला क्यों किया? उन्होंने आरबीआई के केंद्रीय बोर्ड की अगली बैठक के चंद दिन पहले ही यह फैसला लिया। भले ही पटेल के इस्तीफे में निजी कारणों का हवाला दिया गया है लेकिन आरबीआई और सरकार के बीच पिछले कुछ महीनों से जारी अंदरूनी घटनाक्रम से परिचित शख्स के साथ ही केंद्रीय बोर्ड में शामिल स्वच्छंद एवं नए सदस्य भी निजी बातचीत में यह मानेंगे कि पटेल के इस्तीफे का कारण 'व्यक्तिगत' नहीं था। उनके पद छोड़ने के कई कारण थे और वे सभी संस्थागत हैं।

उन रिपोर्टों पर यकीन मत कीजिए जिनके मुताबिक 19 नवंबर को हुई पिछली बोर्ड बैठक काफी हद तक सामंजस्यपूर्ण माहौल में संपन्न हुई थी। उस दिन दोपहर तक हर कोई यही प्रार्थना कर रहा था कि पटेल और उनके द्वारा चुने हुए डिप्टी गवर्नर विरल आचार्य के इस्तीफों के साथ वह बैठक न खत्म हो। 19 नवंबर की उस शाम को जब ऐसा कुछ नहीं हुआ तो लोगों ने राहत की सांस ली और अगले दिन सुखियां यही बनी कि दोनों पक्षों के बीच के मतभेदों को सौहार्दपूर्ण तरीके से खत्म कर लिया गया है। लेकिन ऐसा नहीं था। वह बैठक लंबी, थकाऊ, बेहद मुश्किल और शायद ही सहजीवी थी। केंद्रीय बोर्ड के कुछ प्रमुख सदस्यों की तरफ से कड़ी मांग रखने के अभ्यस्त न रहे गवर्नर और उनके चार डिप्टी गवर्नरों को पहले की तुलना में सबसे ज्यादा सहमति जतानी पड़ी। वित्त मंत्रालय की तरफ से सुभाष चंद्र गर्ग और राजीव कुमार एवं स्वदेशी जागरण मंच के एस गुरुमूर्ति की तरफ से पटेल की टीम पर भारी दबाव डाला गया था। इसकी पुष्टि के लिए आप 19 नवंबर की बोर्ड बैठक के पहले की आरबीआई की राय और बाद में लिए गए फैसले पर एक नजर डाल सकते हैं। इस बैठक से पहले तीन अहम मुद्दों पर आरबीआई की राय अलग थी। ये मुद्दे थे:

पहला, आरबीआई के आरक्षित भंडार से निकासी की वित्त मंत्रालय की क्षमता का था। वर्ष 2013-14 से ही आरबीआई अपना समूचा अधिशेष व्यय के लिए केंद्र सरकार के सुपुर्द करता आया है। यह राशि 65,800 करोड़ रुपये से लेकर 30,659 करोड़ रुपये तक रही। सरकार आरबीआई की आकस्मिक निधि से अधिक रकम चाहती थी और कई बार 3.6 लाख करोड़ रुपये का जिक्र भी किया गया। इस बैठक के पहले आरबीआई ने इस पर सख्त लहजे में नकारात्मक तेवर दिखाया था। लेकिन बैठक के बाद आरबीआई एक विशेषज्ञ समिति के गठन के लिए राजी हो गया जो केंद्रीय बैंक के आर्थिक पूंजीगत ढांचे को तय करेगी। इस समिति के सदस्यों एवं शर्तों का फैसला सरकार और आरबीआई दोनों को मिलकर करना है। दीवार पर लिखी इबारत काफी साफ थी: विशेषज्ञ समिति के गठन का तरीका अपनाकर ऐसा रास्ता बनाया जाए कि आरबीआई के आरक्षित भंडार में से बड़ी रकम का हस्तांतरण सरकार को किया जा सके। पटेल और उनकी टीम यह अहम लड़ाई हार गई थी।

दूसरा मुद्दा 13 अप्रैल को जारी त्वरित उपचारात्मक कदम (पीसीए) ढांचे से संबंधित था जिसमें फंसे कर्ज से बेहाल 11 सार्वजनिक बैंकों और एक निजी बैंक के परिचालन पर सख्ती बरती गई थी। 19 नवंबर के पहले आरबीआई की राय यही थी कि यह ढांचा अलंघनीय है और बैंकिंग प्रणाली की भावी सेहत के लिए इस राह से हटना अस्वीकार्य है। लेकिन 19 नवंबर की बैठक के बाद आरबीआई का शीर्ष नेतृत्व कुछ सार्वजनिक बैंकों के लिए पीसीए मसौदे को नरम करने पर विचार के लिए एक समिति गठित करने पर राजी हो गया। इस तरह ये दोनों मुद्दे वित्त मंत्रालय के पक्ष में गए।

तीसरा मुद्दा पूंजी पर्याप्तता अनुपात से संबंधित था। आरबीआई ने जोखिम के आधार पर पूंजी पर्याप्तता अनुपात तय किया था जो बेसल-3 के न्यूनतम मानकों से भी सख्त थे। ऋणग्रस्त परिसंपत्तियों की जल्द पहचान के लिए ये मानक इस साल फरवरी में निर्धारित किए गए थे। केंद्रीय बैंक इस मामले में भी झुकने को तैयार नहीं था। लेकिन 19 नवंबर के बाद आरबीआई इन पूंजी संरक्षण प्रावधानों को पूरी तरह लागू करने के लिए एक साल की मियाद देने को तैयार हो गया।

हालांकि इस मोर्चे पर आरबीआई की सीधी हार नहीं हुई लेकिन प्रावधान नरम करना ही भविष्य में अधिक छूट पाने के लिए काफी है।

इस तरह आरबीआई को 19 नवंबर की बैठक में बड़े झटके सहने पड़े। पूर्वानुमान लगाया गया कि समिति की अनुशंसाओं या दूसरे तरीकों से आने वाले महीनों में उस पर अधिक दबाव डाला जाएगा। आरबीआई को पिछले 20-25 वर्षों में अपने रुख में इस तरह शायद ही कभी बदलाव करना पड़ा था। सुर्खियों से परे देखने वालों के लिए यह संदेश साफ था कि इस लड़ाई में वित्त मंत्रालय की जीत हुई है और आने वाले महीनों में वह इस बढ़त को बढ़ाने की पुरजोर कोशिश करेगा। जब आप हमलावर ताकतों के आगे अपना मोर्चा छोड़ देते हैं तो आप उस जंग को न सही तो उस लड़ाई को तो हार ही जाते हैं। असल में, 19 नवंबर की शाम होते-होते आरबीआई को अपना मोर्चा छोड़ने के लिए मजबूर कर दिया गया था। उर्जित पटेल को इसका अहसास हो चुका था लिहाजा अपने संस्थान को और शर्मिंदगी से बचाने के लिए उन्होंने अपना इस्तीफा दे दिया। नोटबंदी के दौरान हालात को संभालने वाले गवर्नर की छवि भी उनके संस्थान को नए हमलों से नहीं बचा पाई। मेरा मानना है कि पटेल को 14 दिसंबर की बैठक में भी ऐसे हमलों का अंदेशा था। ऐसी सूरत में उन्होंने इस्तीफा दे दिया और इसकी वजह पूरी तरह संस्थागत है, न कि व्यक्तिगत।

मुझे निराशाजनक तरीके से लेख खत्म करने की इजाजत दीजिए। यह संभवतः आरबीआई की परिचालन-संबंधी स्वतंत्रता के दौर का अंत है। मेरी यह राय थी कि आरबीआई के भीतर एक ऐसा आभामंडल है जो इसके गवर्नरों को संस्थान की संरक्षा करने वाले नेताओं में तब्दील कर देता है। ठीक केंटरबरी के आर्चबिशप थॉमस ऑ बेकेट की तरह। लेकिन दुखद रूप से मुझे भविष्य में ऐसा होता नहीं दिख रहा है। फिर भी मैं उम्मीद करता हूं कि मैं गलत साबित हो जाऊं। यह सरकार इस महान संस्था को जिस तरह झुकाने की कोशिश में लगी है, उससे तो मुझे हालात बिगड़ने का ही अंदेशा है।

नईदुनिया

Date: 14-12-18

नए गवर्नर के लिए कम नहीं चुनौतियां

विवेक कौल, (लेखक अर्थशास्त्री हैं, जिन्होंने ईजी मनी ट्रायोलॉजी लिखी है)



पिछले दिनों उर्जित पटेल ने रिजर्व बैंक के गवर्नर पद से अचानक इस्तीफा देते हुए हलचल मचा दी। सबको पता है कि उर्जित पटेल थोड़ा कम बोलते हैं। जितने भी दिन वह भारतीय रिजर्व बैंक के गवर्नर रहे, उन्होंने बहुत कम भाषण दिए और किसी भी प्रेस कांफ्रेंस को 15-20 मिनट से अधिक नहीं चलने दिया। इसलिए उनका यूँ अचानक इस्तीफा देना जरूर चौंकाने वाला था, लेकिन यह आश्चर्य की बात बिलकुल भी नहीं थी कि इस्तीफे संबंधी उनका बयान बहुत ही छोटा था? इस बयान में उन्होंने देश को यही बताया कि वह रिजर्व बैंक के गवर्नर पद को व्यक्तिगत कारणों से तत्काल प्रभाव

से छोड़ रहे हैं।

यह बात तो जगजाहिर ही है कि जब लोग वरिष्ठ पदों से इस्तीफा देने की वजह 'व्यक्तिगतबताते हैं तो अमूमन वजह कुछ और ही होती है। हकीकत यह है कि उर्जित पटेल के मामले में रिजर्व बैंक और वित्त मंत्रालय के बीच चल रही रस्साकशी थोड़ी अधिक चल गई थी, इसलिए पटेल ने आखिरकार पद छोड़ना ही ठीक समझा। उनके पद छोड़ते ही सरकार ने एक दिन के अंदर शक्तिकांत दास को रिजर्व बैंक का नया गवर्नर नियुक्त कर दिया। दास आईएएस अफसर रह चुके हैं और मई 2017 में सेवामुक्त होने से पहले वित्त मंत्रालय में आर्थिक मामलों के सचिव थे। यह पहली बार नहीं है कि वित्त मंत्रालय से कोई रिजर्व बैंक गया हो। इससे पहले कई गवर्नर जैसे बिमल जालान, वाईवी रेड्डी, डी सुब्बाराव भी वित्त मंत्रालय में सचिव रह चुके हैं। गौरतलब है कि रघुराम राजन रिजर्व बैंक के गवर्नर बनने से पहले वित्त मंत्रालय में मुख्य आर्थिक सलाहकार थे। इसलिए वित्त मंत्रालय से रिजर्व बैंक जाने की परंपरा रही है। इससे दो चीजें पता चलती हैं। एक, आईएएस लॉबी की सरकार पर पकड़ और दूसरी, हर सरकार की यह चाह कि गवर्नर किसी ऐसे आदमी को बनाया जाए, जो सरकारी महकमों का ख्याल रख सके।

एक जमाना था, जब रिजर्व बैंक के अधिकतर गवर्नर वित्त मंत्रालय से ही आते थे। शक्तिकांत दास की नियुक्ति भी कुछ ऐसी ही वजहों से देखी जा रही है। यह सही है कि रिजर्व बैंक के पिछले दो गवर्नरों से सरकार की पटी नहीं। रघुराम राजन को पूर्ववर्ती मनमोहन सिंह सरकार ने नियुक्त किया था, परंतु उर्जित पटेल तो नरेंद्र मोदी सरकार की नियुक्ति थे। शक्तिकांत दास की नियुक्ति करके सरकार जैसा कि अंग्रेजी में कहते हैं, एक नोन डेविल के साथ जाना चाहती है। इसलिए 20 साल में पहली बार एक ऐसे आदमी की रिजर्व बैंक के गवर्नर के रूप में नियुक्ति हुई है, जिसके पास अर्थशास्त्र में पीएचडी नहीं है। शक्तिकांत दास की शिक्षा इतिहास में एमए तक हुई है। एक जमाने में विश्वभर में ज्यादातर केंद्रीय बैंकों को नौकरशाह ही चलाया करते थे, परंतु अब वह जमाना लद गया है।

आज विशेषज्ञता का जमाना है। शक्तिकांत दास को रिजर्व बैंक का गवर्नर बनाकर मोदी सरकार इस नए जमाने के खिलाफ जा रही है। यह हकीकत है कि भारत के पिछड़े रहने की एक बड़ी वजह उसके नौकरशाह हैं, जो एक परीक्षा पास करने के बाद अगले तीन से चार दशकों तक देश को चलाते हैं। यह प्रवृत्ति ब्रिटिश राज के जमाने से चली आ रही है। अंग्रेजों को देशभर में जिला चलाने के लिए प्रशासक चाहिए थे। इसलिए नौकरशाहों का थोड़ा-बहुत हरफनमौला होना चल जाता था, लेकिन आज के जमाने में भारत की जटिल समस्याओं को सुधारने के लिए विशेषज्ञता की जरूरत है। फिर चाहे वह रिजर्व बैंक का गवर्नर हो या फिर किसी जिले का जिलाधिकारी। अगर इसे बिल्कुल ही सरल भाषा में कहा जाए तो जब आपके कान में दर्द होता है, तब आप दांत के डॉक्टर के पास नहीं जाते। यहां पर एक समस्या यह भी है कि काफी अर्थशास्त्रियों ने मोदी सरकार का साथ छोड़ा है। रघुराम राजन और उर्जित पटेल के अलावा इस सूची में अरविंद पनगढ़िया, अरविंद सुब्रमण्यम और सुरजीत भल्ला जैसे नाम शामिल हैं। इसकी वजह से यह भी कहा जा सकता है कि अर्थशास्त्रियों में मोदी सरकार के लिए काम करने को लेकर अधिक उत्साह नहीं है।

शक्तिकांत दास के खिलाफ एक नकारात्मक कारक यह भी है कि जब देश में नोटबंदी लागू की गई थी, उस वक्त वह आर्थिक मामलों के सचिव थे। नोटबंदी के दौरान विभिन्न संवाददाता सम्मेलनों में उन्होंने इसका जमकर समर्थन किया था। सेवानिवृत्ति के बाद भी यह समर्थन चलता रहा। लेकिन अब नोटबंदी के दो साल बाद उनके उस वक्त के कई बयान हास्यास्पद नजर आते हैं। किसी भी देश के लिए यही अच्छा होता है कि उसके केंद्रीय बैंक और वित्त मंत्रालय में थोड़ी-बहुत रस्साकशी बनी रहे। इससे अर्थव्यवस्था का फायदा होता है। सरकारें हमेशा यह चाहती हैं कि केंद्रीय बैंक ब्याज दरें घटाए रखे, परंतु केंद्रीय बैंक को यह भी देखना पड़ता है कि अगर ब्याज दरें हमेशा कम रहेंगी तो पर्याप्त मात्रा में बचत नहीं होगी और अगर बचत नहीं होगी तो फिर पूंजी निवेश के लिए पैसा कहां से आएगा? रिजर्व बैंक के नए गवर्नर को

यह भी ध्यान रखना है कि आज की दुनिया एक वैश्वीकृत दुनिया है। अगर रिजर्व बैंक ब्याज दरों को घटाता है, जैसा कि सरकार चाहती है तो इससे शायद भारतीय कंपनियों का थोड़ा-बहुत फायदा होगा, लेकिन इससे विदेशी निवेशकों की भारतीय ऋण बाजार से पैसा निकालने की आशंका बढ़ जाती है। जब विदेशी निवेशक बहुत सारा पैसा निकालकर भारत से बाहर ले जाएंगे तो डॉलर के मुकाबले रुपए का मूल्य गिरने की आशंका बढ़ जाएगी।

इसका भी अपना प्रभाव होगा। साफ है कि रिजर्व बैंक के गवर्नर को इन सारे अंदेशों को दिमाग में लेकर चलना पड़ता है। वह आंख मूंदकर सरकार के लिए बल्लेबाजी नहीं कर सकता। अभी नए गवर्नर के रुख-रवैए को लेकर काफी अस्पष्टता है। वैसे ऐसी अस्पष्टता का सामना नौकरशाह अमूमन नहीं करते हैं और यहां पर अर्थशास्त्र की उचित शिक्षा भी महत्वपूर्ण हो जाती है। जैसा कि पहले कहा, शक्तिकांत दास इतिहास के छात्र रहे हैं, इसलिए उन्हें अपने डिप्टी गवर्नरों पर काफी भरोसा करना पड़ेगा। इस भरोसे को बनाने के लिए उन्हें पहले डिप्टी गवर्नरों के साथ एक विश्वास का स्तर बनाना पड़ेगा। अगले कुछ दिनों में यह उनका सबसे जरूरी काम होना चाहिए। चूंकि दास अर्थशास्त्री नहीं हैं, इसलिए यह बहुत जरूरी है कि रिजर्व बैंक में जो विशेषज्ञ बैठे हैं, वह उनका अच्छी तरह से इस्तेमाल करें। और अंत में, उनकी नियुक्ति को थोड़ी आशावादी नजरों से भी देखना जरूरी है। भारतीय रिजर्व बैंक के गवर्नर का पद उस पर बैठे व्यक्ति से बड़ा होता है। शक्तिकांत दास के लिए यह समझना सबसे जरूरी है। गवर्नर के पद पर बैठने के बाद व्यक्ति के लिए यह समझना भी जरूरी होता है कि वो जो निर्णय लेगा या नहीं लेगा, उससे ही उसकी विरासत बनेगी। इतिहास गवाह है कि विरासत बनाने का जो डर होता है, वह प्रेरक शक्ति बन जाता है और रिजर्व बैंक के गवर्नर को ऐसे निर्णय लेने पर विवश करता है जो दीर्घकालिक रूप से देश के लिए अच्छे हों, न कि सिर्फ सरकार के लिए। उम्मीद है कि शक्तिकांत दास भी इसी नजरिए के हामी होंगे।



Date: 13-12-18

Upside Of Scaling Down

India must offer unique services, not just depend on low-cost production

Bibek Debroy, (The writer is chairman, Economic Advisory Council to the PM.)

“Those who can do, those who can’t teach.” This quote has been ascribed to many people. No, Woody Allen’s punchline in Annie Hall isn’t the first reference. If credit is to be given, we should stick to George Bernard Shaw, in Man and Superman. The idea/line occurs in the main text of the play, as well as in the appended Maxims for Revolutionists. In the former, “Don’t listen to her Bob. Remember those who can, do; those who can’t teach.” In the latter, “He who can, does. He who cannot, teaches.” There is no reason to presume these were Shaw’s views, as opposed to a clever witticism pronounced by a protagonist in a play.

For example, on education, the Maxims also include the following. “When a man teaches something he does not know to somebody who has no aptitude for it, and gives him a certificate of proficiency, the

latter has completed the education of a gentleman.” The word “teacher” (teach) has an etymological origin such that a teacher means someone who shows a direction. This requires interaction between teacher and student, guru and shishya. Successful teaching is individual-specific and a successful teacher adapts according to capacity and receptivity of recipient. That’s the reason we harp on low student/teacher ratios, if we talk about a class. Lower the ratio, more individualised the attention. Ideally, the figure should be 1:1. But with too many students and too few teachers, we must have classes, not individuals. Thus, deviations from 1:1.

In passing, student/teacher ratios are generally lower in relatively rich countries and higher in relatively poor countries. Without getting into the specifics of regulatory norms, we have implicitly assumed the ratios will decline as we move up the education ladder. Therefore, 30:1 or 35:1 is acceptable in schools, but it must decline to 25:1 for under-graduate and 10:1 for post-graduate or professional courses. At the PhD level, it will clearly be 1:1. In other words, we recognise the 1:1 guru-shishya interaction as ideal, but deviate on grounds of scarce resources — too many students, too few teachers. The lower range of the education spectrum is like an assembly line, individuality is left for the upper range.

For students, we increasingly repress individuality — in curricula, teaching and examination methods. The lower down the education ladder, the more accentuated this is. Therefore, at the school level, gone are the days when students wrote essays with subjectivity built into answers and evaluation. Instead, we must approximate multiple-choice type objective questions, where computers can also perform evaluation. But, as we move up the education ladder and progress towards jobs, we want some criteria to gauge the applicant’s individuality. However, since we have progressively reduced students to commodities, there is no option but to raise the bar or filter higher. Earlier, an undergraduate degree ensured differentiation. That role shifted to post-graduate degrees. In academia, that role later shifted to PhDs. Subsequently, it shifted to publications. Still later, it shifted to citations. Teachers have also been reduced to commodities.

There is a difference between a good and a service, even though technology blurs the difference. A service requires direct interface between the producer and the consumer. A typical service cannot be stored and teaching is a service, though a video of a teacher delivering a lecture can be reduced to a good. Despite excitement about technology, I think good teaching, or good anything that is a service, is intrinsically interactive. It is 1:1. A least common denominator can be replicated, as a template. But anything beyond cannot be standardised. Superior service is not about the industrial revolution and producing the service at least possible cost. Yet, for teachers, and for others, we now have the phenomena of power point presentations. Typically, this means a standardised template, devoid of interaction and uniqueness. In the PPT mode, we don’t really need the teacher — it is meant to eliminate the teacher, instead.

This is not just about teaching. Teaching is an example of a service. If India’s strength is in services, and not in classic manufacturing, we should celebrate uniqueness and not seek to standardise, trying to produce Model T-s cheaply. I do not wish to posit this as either/or. It isn’t. But I think in branding India and musing about Make in India, we have focused inordinately on low-cost production. A brand distinguishes itself from a commodity by commanding a premium. It commands a premium because of quality and by virtue of being rarer, not generic. Traditionally, we haven’t produced generic items. There weren’t hundreds of pieces of muslin that could pass through a ring. Pieces were unique. With quality ensured, let’s not always worry about the economies of scale and scope. There is scope for scaling down.

Date: 13-12-18

Democracy's demons

Polarisation brought about by political rhetoric, unfulfilled expectations and partisan media combine to pose a challenge to democratic polities.

Janmejaya Sinha, (The writer is chairman, Asia Pacific, Boston Consulting Group.)

The extent of polarisation under democratic governments across the world seems extreme. Look at the US, Brazil, many parts of Europe and Asia and the same holds true. In fact, authoritarian regimes can justifiably claim to house less internal polarisation than democracies. Why is this so? Is there something in the nature of democracies that leads to a polarisation of the populace? Have the recent developments in technology and social media accentuated such tendencies? If we go back in time, thinkers and politicians alike asserted the complexities in making a democracy work.

Winston Churchill had famously remarked that “democracy is the worst form of government except for all others tried from time to time”. He went on to add, though, “that the best argument against democracy is a five-minute conversation with the average voter”. Much before him, Aristotle, had averred that “democracies degenerate into despotism”. Many politicians and thinkers, including John Kennedy, said that a well-functioning democracy puts high expectations on the average voter to engage and participate. Plato had his own concerns with democracy. He believed “good decisions were based on knowledge and not numbers” and perceptively opined that “rhetoric is the art of ruling the minds of men”.

If one were to add another allied term, “narrative”, then what Plato said becomes even more powerful. “Rhetoric” is best defined as the art of using speech to persuade, influence or please, but also as speech or discourse that pretends to have significance but lacks true meaning, as when we assert that all the politician says is mere rhetoric. “Narrative” is best understood as a story or a description of a series of events or, more pertinently, a particular way of explaining or understanding events. The rhetoric that best positions a political narrative is at the core of most current political debates. But how does this lead to such bitter polarisation in a democracy?

Political leaders have a short period of time during an election to provide an uplifting narrative to the voters. Voters engage at a superficial level. So, the rhetoric on offer has to be both simple and instantly appealing — like Trump’s “jobs vs mobs”. Given the diversity of the electorate, the politician has no choice but to appeal to as many segments as he or she can. Typically, they do this by over-promising what they can deliver in a term in office. There is no credible non-partisan manner for the general population to monitor and evaluate the performance of the politician once elected.

When time comes for the next election, opposition parties highlight all the areas that the incumbent failed to deliver and the incumbent tries to highlight, with hyperbole, all the things that have been achieved. The voter is not in a position to really get to the bottom of this. As a result, the rhetoric becomes all important. “Hope” as a theme is easily appropriated by the challenger. The incumbent is typically on the defensive and has to fall back on a strident narrative around primordial themes — demonising opponents, social groups or exaggerating external threats to create an appeal that can overcome the scrutiny of undelivered promises.

Social media today allows individual customisation of news and much greater amplification as it gets delivered to the mailbox or hand-held device of the individual. People consume what they agree with, all opposing views are filtered out, and so there no access to any objective reality. The uncivil rhetoric on social media was not possible in the heyday of print media. The electronic media has adjusted to this and finds strident shows get higher viewership. Channels get identified with a particular partisan perspective and obtain a loyal viewership from those that agree with that narrative. (In the US, Fox news, Republican leaning, has roughly equal viewership to MSNBC and CNN combined, which are Democrat leaning). Thus, channels get type cast and can only present their side with partiality. There is no reasoned debate and people do not listen to alternative viewpoints. This, over time, polarises the society and beliefs are stoked in an era of alternative facts and fake news. Compromise and bipartisanship on national causes becomes much harder. At its extreme, the partisanship can lead, as Aristotle worried, towards despotism, as is evident in Philippines with Rodrigo Duterte, Turkey with Recep Erdogan and now in Brazil with Jair Bolsonaro.

Authoritarian regimes led by strong men appear less polarised. Such regimes tightly control the press, courts and political opposition. They brutally suppress critics and dissidents. But the mass of people seem unaffected if their lot improves. The rhetoric on offer is consistent with the leader's narrative (often of jingoism, global prestige and economic progress). It is true that in the long run, the absence of internal challenge and leadership change prevents self-correcting mechanisms and can lead to the economic collapse of many such regimes. But in the short-run, they can move faster. And so, if we view Russia, China and even the brutal Saudi Arabia, one has to admit that they are much less polarised than the US, Brazil, Western Europe and Asia.

Periodic peaceful transfer of power by popular vote, by uninformed voters accompanied with growing inequality, a strident partisan rhetoric combined with under delivery (on impossible but required to win promises), a sensationalist media, all lead to polarisation. Democracies expect great sagacity from their leaders; to rise above and lead. Across the world, leaders are increasingly failing to do so. Democracies are built on the premise of serious voter engagement and objective news. Their absence is leading to a great challenge in governance and global stability. Great introspection is required to revitalise the democratic experiment.
